नाट्यशास्त्र और अध्यात्म

राधावल्लभ त्रिपाठी, कुलपतिचर, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली

नाट्यशास्त्र के पहले अध्याय में बताया गया है कि एक बार अनध्याय के दिन भरतमुनि अपने शिष्यों के साथ बैठे हुए थे, तब आत्रेय आदि कुछ अन्य मुनि नाट्य के विषय में कुछ जानने समझने के लिये उनके पास चले आये। इन मुनियों ने भरत मुनि से प्रश्न पूछे। इन प्रश्नों के समाधान में भरतमुनि ने जो कहा, और उनके कहे पर जो प्रतिप्रश्न किये गये और उन पर फिर जो चर्चा हुई, उससे नाट्यशास्त्र बना। अस्तु, आत्रेय आदि मुनियों ने भरतमुनि से पाँच प्रश्न प्रारंभ में किये, इनमें से चौथा प्रश्न था – नाट्य का प्रमाण क्या है? भरत मुनि ने प्रश्नोत्तर के क्रम में नाट्यशास्त्र के प्रमाणों का विवेचन इस प्रकार किया है –

लोको वेदस्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्।
वेदाध्यात्मपदार्थेषु प्रायो नाट्यं प्रतिष्ठितम्।।
वेदाध्यात्मोपपन्नं तु शब्दच्छन्दसमन्वितम्।
लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकात्मकं तथा।।

(नाट्यशास्त्र, २५.१२०–२१)

(इस शास्त्र में लोक, वेद तथा अध्यात्म – यह तीन प्रकार का प्रमाण स्वीकृत है। वेद और अध्यात्म के पदार्थों में प्रायः नाट्य प्रतिष्ठित है। वेद तथा अध्यात्म से युक्त, शब्द और छंद से समन्वित नाट्य लोकसिद्ध तथा लोकात्मक होता है, तथा लोकात्मक हुआ करता है।)

नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार अभिनव गुप्त के अनुसार लोक में चराचर जगत् तो समाविष्ट है ही, लौकिक प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाण भी इसमें आ जाते हैं, तब वेद से आशय धनुर्वेद, गान्धर्ववेद आदि से लिया जाना चाहिये।[१]

नाट्य की लोकसिद्धता तथा लोकात्मकता वेद और अध्यात्म से उत्पन्न तथा शब्द और छंद से समन्वित होनी चाहिये। अध्यात्म के कारण ही कवि, नट तथा प्रेक्षक लोक की वेदनाओं, सुख-दुःख और अन्य अनुभूतियों की तदाकाराकारित प्रतीति कर पाते हैं। वे सारे संसार को अपने भीतर देखते हैं।

[१] नाट्यशास्त्र, भाग ३, पृ. २८६

अध्यात्म का अर्थ अभिनव गुप्त ने 'स्वसंस्थ वेदन' किया है। अध्यात्म सर्जक का आत्मसंस्थवेदन या स्वात्म में प्रतिष्ठित होकर किया जाने वाला बोध है। अभिनव गुप्त का यह भी आशय प्रतीत होता है कि लोक के प्रत्यय आगम या वेद से प्रमित होते हैं, तथा आगम या वेद के प्रत्यय भी अध्यात्म से सत्यापित होते हैं।[२] अभिनव गुप्त की व्याख्या में शब्द और छन्दस् नामक शब्दों की विवृति विशेष विचारणीय है। शब्द से आशय है व्याकरण नामक आगम से प्राप्त भाषा, और छन्द से अभिप्राय है (अभिनेता का) आत्मसंवेदन।

कलासर्जना के लिये स्रष्टा की अकलुष चेतना या उसके मन की समाहित स्थिति अपेक्षित है। यही कला का अध्यात्म है। चित्त की समाहित या समाधि की स्थिति को प्रख्या भी कहा गया है। प्रख्या संवेदनात्मक हो तथा सर्जना के लिए प्रवृत्त कराये, तो यह स्थिति सत्त्व है।[३] सत्त्व की स्थिति में अभिनेता अपने आत्म के प्रति सचेत रहता है।

सात्त्विक भावों के अभिनय के लिये सत्त्व या चित्त की एकाग्रता अपेक्षाकृत अधिक आवश्यक है, अतः इन भावों के अभिनय में सात्त्विक अभिनय की प्रधानता मानी गयी है। सत्त्व में अभिनेता की अवस्थिति के द्वारा ही परभावकरण या परकायप्रवेश संभव हो पाता है। परभावकरण में कला का अपूर्व वैभव प्रकट होता है, जो अध्यात्म के शिखर पर आरूढ़ सर्जक की साधना का फल है। इसका स्वरूप भरतमुनि ने इस प्रकार बताया है –

यथा जन्तुः स्वभावं स्वं परित्यज्यान्यदैहिकम् ।।
तत्स्वभावं हि भजते देहान्तरमुपाश्रितः।
वेषेण वर्णकैश्चैवच्छादितः पुरुषस्तथा ।।
परभावं प्रकुरुते यस्य वेषं समाश्रितः।

(नाट्यशास्त्र २१.८९–९०)

(जिस प्रकार जीव एक देह को छोड़कर अन्य देह में प्रवेश करने पर उसी अन्य देह के स्वभाव को प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार वेष और रंगों से आच्छादित अभिनेता भी जिसकी भूमिका करता है, उसी के भाव को व्यक्त करने लगता है।)

अभिनव गुप्त के अनुसार जंतु यहाँ शुद्धनिर्मलानन्तचिदानन्दप्रकाशस्वरूप जीवात्मा है। स्वातनय उसका स्वरूप है। वह अपने स्वभाव को छोड़ कर अपने से भिन्न अन्य के स्वभाव को अंगीकार करता है, किसी अन्य देही के अत्यंत आसन्न होकर तदात्मवृत्ति हो जाता है। सर्जक या नट की यह क्रिया परमात्मा की क्रिया का अनुकरण है। परमात्मा भी चैतन्यस्वरूप और प्रकाश रूप है, वे अपने चैतन्य

२ वही, पृ. २८६–८७
३ सदिति प्रख्यारूपं संवेदनम्। तद् यत्रास्ति तत् सत्त्वं मनः। तस्येयमिति।–अभिभा. नाट्यशास्त्र, भाग–१, पृ. २०

और प्रकाश को छोड़े बिना देह के कंचुक के योग्य चित्तवृत्ति से अपने आप को अवच्छिन्न बनाते हुए अपने को अन्य स्वरूप में व्यक्त कर देते हैं। इसी तरह नट भी आत्मावस्थित रूप को छोड़े बिना अन्य के वेष में अपने को प्रकट करता है।[४]

स्वभाव को छोड़ कर परभाव में आश्रित हो जाना आध्यात्मिक चेतना के बिना असंभव है। यह मनुष्य का अपने संकुचित चैतन्य को छोड़ कर अनन्त हो जाना है। नाट्यशास्त्र के छब्बीसवें अध्याय में भरतमुनि फिर इसी प्रकरण को उठाते हुए कहते हैं कि परभाव का समाश्रय लेकर नट परभावकरण का निर्वाह कर पाता है।

यथा जीवत्स्वभावं हि परित्यज्यान्यदैहिकम्।
परभावं प्रकुरुते परभावं समाश्रितः।।
एवं बुधः परं भावं सोऽस्मीति मनसा स्मरन्।
येषां वागङ्गलीलाभिश्चेष्टाभिस्तु समाचरेत्।। ना.शा. २६.७–८।।

जैसे जीव एक देह से दूसरे देह में पहुँचकर अपना स्वभाव छोड़कर परभाव के आश्रित होकर परभाव (दूसरे के शील) को प्रकट करता है, वैसे ही चतुर अभिनेता मन में 'मैं वह पात्र हूँ' ऐसा ध्यान करता हुआ उस पात्र के भाव को प्रकट करे, जिसके वाणी, आंगिक अभिनय तथा लीला और चेष्टा का अनुकरण उसे करना है।

अभिनव गुप्त इस स्थल पर मूर्ति के सम्मुख ध्यान का दृष्टांत देते हैं। साधक के सामने ध्यानपट या मूर्ति है। उसमें वह दश भुजाओं वाले तथा पाँच मुख वाले सदाशिव को देखता हुआ उनमें अपनी बुद्धि निवेशित करता है। उस स्थिति में वह तद्देशत्व और तत्कालत्व की सीमाओं से मुक्त हो जाता है। उसका अवष्टंभ या एकाग्रता का माध्यम केवल सिंदूर और हरिताल से निर्मित आकृति ही नहीं होती (अन्य भी माध्यम हो सकता है)। इसी तरह नट के लिये राम आदि अवष्टंभ के माध्यम हैं। राम आदि के स्वरूप का वह अपनी बुद्धि से ध्यान करता है, और इसके साथ अपने स्वात्म में स्थित भी रहता है।[५]

---

४ वर्तनस्य प्रयोजनमाह यथा जन्तुः स्वभावं स्वमिति। जन्तुरिति जीवात्मेत्यर्थः। स च शुद्धनिर्मलानन्तचिदानन्दप्रकाशः स्वातन्त्र्यरूपं स्वमनपायिनमपि स्वभावं परित्यज्यान्यद् व्यतिरिक्तमपि दैहिकं देहभवं शरीरकरणोचितं तत्स्वभावं भजते, यतो देहान्तरं तद्देहविशेष उपसमीपे आ समन्तात् श्रितः अतिनैकट्येन तदात्मवृत्त्या प्रतिपन्न इत्यर्थः।
एतदुक्तं भवति– यथा परमात्मा स्वचैतन्यप्रकाशमत्यजन्नपि देहकञ्चुकोचितचित्तवृत्तिरूषितमिव स्वरूपमादर्शयति, तथा नटोऽपि आत्मावष्टम्भमत्यजन्नेव स्थाने लयतालाद्यनुसरणाद्ययोगाद् देहस्थानीयेन वर्तनादिवेषपरिवर्तने(न) तदुचितस्वभावालिङ्गितमिव स्वात्मानं सामाजिकान् प्रति दर्शयति, प्रेक्षकपक्षे न नटाभिमानस्तथा हि रामाभिमान इति दर्शयति। **(अभिनवभारती, नाट्यशास्त्र, भाग ३, पृ. १२३–२४)**

५ भूमिरवष्टम्भस्थानम्। यथा च ध्यानपटगते दशभुजपञ्चवक्त्रादिरूप एव भगवति सदाशिवे धिषणानिवेशः क्रियते न तु तत्र तद्देशत्वतत्कालत्वे आदर्तव्यम्। नापि तत्सिन्दूरहरितालादिकृतं तद्द्रव्यं केवलमवष्टम्भस्थानम्। तदेवं रामादयोऽवष्टम्भस्थानमात्रम्। अभि.भा., नाट्यशास्त्र, भाग ३, पृ. २९५
.....सोऽस्मीत्यनेन स्वात्मावष्टम्भस्यात्याज्यतामाह। अन्यथा लयाद्यनुसरणमशक्यम्। **(वही, पृ. २९६)**

कला की साधना के लिये सर्जक की समाहित मनःस्थिति या समाधि आवश्यक है। समाधि शिथिल होने से कला में चूक हो जाती है। मालविकाग्निमित्रम् में मालविका का चित्र देखने के पश्चात् वास्तविक मालविका को देखते हुए अग्निमित्र कहता है –

चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशङ्कि मे हृदयम्।
सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता।।

(जब मैं मालविका को चित्र में देख रहा था, तो सोचता था कि ऐसी कांतिमयी रूपसी कोई हो ही नहीं सकती है। पर अब वास्तविक मालविका को देखता हूँ, तो लगता है जिस कलाकार ने चित्र बनाया उसकी समाधि पक्की नहीं थी।)

बाह्यकरणों (शरीर या कर्मेन्द्रियों) तथा अन्तःकरणों (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) से परे जाकर आत्मा में स्थित होना अध्यात्म है। कविता, चित्र, मूर्ति आदि की सृष्टि के लिये अध्यात्म या आत्मावष्टंभ आवश्यक है, उसी तरह रंगमंच पर अभिनेता के लिये भी।

रूस के महान् नाट्यकर्मी स्तानिस्लाव्स्की कहते हैं कि जो अभिनेता शास्त्र के विधिविधान का पालन भर कर रहा है, वह बगैर आत्मा के रंगमंच पर खड़ा हुआ है।[६] अभिनेता सबसे पहले अपनी आत्मा में प्रतिष्ठित रहे, यहीं से यह नाटक की दुनिया रच सकता है। स्तानिस्लाव्स्की ने अभिनेता के द्वारा अपने आत्म या सत्त्व में अवस्थित करने की प्रक्रिया की खोज अपनी नाट्ययात्रा में की और उसके द्वारा वे नाट्य के सत्य तक पहुंचे। उनके व्याख्याकार बेनेडेटी ने अभिनेता के द्वारा अपने देह और भावों के माध्यम से आत्मभाव तक पहुँचने की प्रक्रिया प्रतिपादित की है। अभिनेता का आत्मस्थ होना ही रंगमंच का परम सत्य है।[७] इस प्रक्रिया में अभिनेता अपने सीमित अहं का विसर्जन करता है और उसका चैतन्य असीम हो जाता है। वह अपने चैतन्य को नाना भूमिकाओं में एकाकार होता हुआ देखता चलता है। स्तानिस्लाव्स्की इब्सन के एक नाटक में नायक स्टाकमेन की भूमिका करते समय हुए अपने अनुभव का बयान करते हुए कहते हैं – 'उस भूमिका की छवि और भाव मेरे अपने अंग बनते चले गये, या इसका व्युत्क्रम अधिक सही था, मेरी अपनी भावनाएँ स्टाकमेन की भावनाओं में रूपांतरित होती चली गईं,

6 The actor simply following the coded set of rules stands on the stage with an empty soul." स्तानिस्लावस्की, १९८०, पृ.१८

7 The logical sequence of the physical actions and feelings will lead the actor to truth and the truth will evoke belief and together, they will create what Stanislavsky calls 'I am', which means 'I exist, I live, I feel and I think in the same way as the character I am representing on the stage does'.....'I am' evokes emotions and feeling enables the actor to enter into the feeling of his part. 'I am' is according to Stanislavsky the condensed and almost absolute truth on the stage."

और इस प्रक्रिया में मैंने उस अपार आनंद का अनुभव किया, जो कोई अभिनेता अंततः पा सकता है, यह आनंद अन्य के विचारों को रंगमंच पर संप्रेषण करने की योग्यता से उपजता है, अपने आप को दूसरे की भावनाओं के लिये पूरी तरह समर्पित हो जाने से उपजता है, तथा अन्य के क्रिया-कलापों को इस तरह प्रस्तुत करने से उपजता है, जैसे वे हमारे अपने क्रिया-कलाप हों'।[८]

स्तानिस्लाव्स्की अभिनय के समय अभिनेता की इस दशा को पराचेतना या उच्चतर चेतना भी कहते हैं। उनके अनुसार कला का सार तत्त्व तथा सर्जनात्मकता का स्रोत मनुष्य की आत्मा के गह्वर में अंतर्निहित है, जहाँ दुर्लभ पराचेतना या हमारे रहस्यमय 'मैं' का अस्तित्व और अंतःप्रेरणाएँ छिपी होती हैं। यही सर्जना की सारी सामग्री का सबसे महत्त्वपूर्ण भंडार हुआ करता है।[९] एक भारतीय अध्येता ने तो स्तानिस्लाव्स्की की अभिनयप्रविधि की तुलना वैष्णवभक्तिसाधना से कर दी है। वैष्णवभक्त की तरह अभिनेता भी सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य और सायुज्य इन चार दशाओं से गुजरता है।[१०] यह भूमिका जैसा दिखना नहीं भूमिकामय होना है ।[११] पर यह तुलना लीलानाट्यों के संदर्भ में ही समीचीन हो सकती है, अन्य नाटकों में भूमिका से सायुज्य की स्थिति अवांछनीय ही नहीं, वह रंगमंच के सत्य के विरुद्ध भी है। यह अभिनेता को आत्मावष्टंभ से विचलित कर देती है, जिसकी परिणति दुःखदायी भी हो सकती है।

इसीलिये पोलैंड के नाट्यनिर्देशक ग्रोतोव्स्की नाट्य में अध्यात्म के विनियोजन की इस प्रक्रिया को दूसरी दृष्टि से देखते हैं। वहाँ भूमिका अभिनेता के लिये आत्मसंधान और आत्मबोध का माध्यम बन जाती है। स्वयं का संधान करते हुए अभिनेता जब प्रेक्षक को इस प्रक्रिया में सम्मिलित कर लेता है, तो अभिनेता और प्रेक्षक के बीच याजक और यजमान का संबंध बन जाता है।[१२]

वस्तुतः कलासृष्टि और कलास्वाद में – विशेष रूप से नाट्यप्रस्तुति की प्रक्रिया में– कवि, नट और भावक तीनों ही आत्मबोध और आत्मज्ञान की सीढ़ियों का आरोहण करते हैं, और यह प्रक्रिया

8 "The image and passions of that part became my own organic ones, or rather, the reverse was true, my own feelings were transformed into Stockmann's and in the process, I experienced the greatest joy an actor can ever experience, namely the ability of speaking the thoughts of another man on stage, of putting yourself entirely at the service of someone else's passions, and of reproducing someone else's actions as if they were your own." (Stanislavsky on Art of stage. p. 16)

9 ''The essence of art the main source of creativity are hidden deep in man's soul, where centre of our inaccessible superconsciousness, our mysterious "I" has its being and inspiration itself. That is the store-house of our most important material." (Stanislavasky, 1963, p. 81)

10 Article of JH Dave "Naṭyadīpaprakaraṇa" in Bharatiya Vidyā, vol. XLVII, nos. 1-4, p. 236

11 Stanislavsky – An Actor Hand Book, New York Theatre Arts Books, !963, p 91

12 Article of JH Dave "Naṭyadīpaprakaraṇa" in Bharatiya Vidyā, vol. XLVII, nos. 1-4, FN 27.

अंततः मुक्ति के द्वार खोलती है। इसीलिये सांख्य, वेदांत और शैव दर्शनों में आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया समझाने के लिये रंगमंच का दृष्टांत दिया जाता है। सांख्यकारिका में ईश्वरकृष्ण कहते हैं –

रङ्गस्य दर्शयित्वा यथा नर्तकी निवर्तते नृत्यात्। इत्यादि।

इसी प्रकार विद्यारण्य पंचदशी में कहते हैं –

नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम्।
दीपयेदविशेषेण तदभावेपि दीप्यते ।।
अहङ्कारं धियं साक्षी विषयानपि भासयेत्।
अहङ्काराद्यभावेपि स्वयं भात्येव पूर्ववत्।।
स्वस्थानस्थितो दीपः सर्वतो भासयेद्यथा।
स्थिरस्थायी तथा साक्षी बहिरन्तः प्रकाशयेत् ।।

(पञ्चदशी, ९/११,१२,१५)

विद्यारण्य के ये कथन वेदांत की साक्षिभास्यता के साथ रंगशाला में चलने वाली आत्मावष्टंभ और आत्मबोध की प्रक्रिया की व्याख्या भी करते हैं। शैव दार्शनिकों ने तो समाधिगत आनंद, शैवानुभूति या परमतत्त्व के साक्षात्कार की समाकारिता नाट्यानुभव से प्रतिपादित की ही है। सोमानंद शिवसूत्र में कहते हैं –

नर्तक आत्मा। रङ्गोन्तरात्मा। प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि। धीसत्त्वात् सत्त्वसिद्धिः।

शिवसूत्र, ९–१२

इस दर्शन में शिव कवि, कलाकार या नट बन जाते हैं, और कवि, कलाकार या नट शिव बन जाता है। यह संसार शिव का रचा काव्य, चित्र या नाटक हो जाता है, जिसमें शिव की उपस्थिति रससृष्टि करती रहती है। यही रससृष्टि कला में होती है। अतः कला न भ्रम है, न आरोप, न निश्चयात्मक ज्ञान या अध्यवसाय। वह रसस्वभाव वस्तु है। कला रस है और रस कला है। शिव की उपस्थिति इस रस में रसता लाती है। तन्त्रालोक में अभिनव गुप्त ने कहा है –

तथा हृदयैकाग्रसकलसामाजिकजनः खलु।
नृत्तं गीतं सुधासारसागरत्वेन मन्यते।।
तत एवोच्यते मल्लनटप्रेक्षप्रदर्शने।
सर्वप्रमातृतादात्म्यं पूर्णरूपानुभावकम्।।

(तंत्रालोक, १०.८५–८६, भाग ५, पृ. १९५०–५१)

योगिनीमेलक में होने वाले आत्मानुभव के लिये भी नृत्त, गीत, मल्ल और नटप्रेक्षा आदि की परिषद् का दृष्टांत देते हुए अभिनव गुप्त कहते हैं –

योगिनीमेलकाच्चैषोऽवश्यं ज्ञानं प्रपद्यते।
तेन तत्पर्व तद्वच्च स्वसन्तानादिमेलनम्।।
संवित् सर्वात्मिका देहभेदाद् या सङ्कुचेत् तु सा।
मेलकेऽन्योन्यसङ्घट्टप्रतिबिम्बाद् विकस्वरा।।
उच्छलन्निजरश्म्यौघः संवित्सु प्रतिबिम्बितः।
बहुदर्पणवद् दीप्तः सर्वांशेनाप्ययत्नतः।
अत एव नृत्तगीतप्रभृतौ बहु पर्षदि।
यः सर्वतन्मयीभावो ह्लादो नत्वेककस्य सः।।
आनन्दनिर्भरा संवित् प्रत्यक्षं सा तथैकताम्।
नृत्तादौ विषये प्राप्ता पूर्णानन्दत्वमश्नुते।।
ईर्ष्याऽसूयादसङ्कोचकारणाभावतोऽत्र सा।
विकस्वरा निष्प्रतिघं संविदान्नदयोगिनी।।

(तंत्रालोक, २८.३७२–७८, भाग–७, पृ ३२६४–६६)

(नृत्य या नाट्य देखते हुए सामाजिक जन नृत्य या गीत के द्वारा सुधा के सागर में डुबकी लगाने जैसा अनुभव करता है। मल्ल, नट आदि के खेल देखते हुए सारे प्रमाताओं या अनुभवकर्ताओं का तादात्म्य हो जाने से वहाँ उत्पन्न आह्लाद किसी एक का नहीं होता, वह सबका हो जाता है। उसमें मनुष्य अपने पूर्ण रूप का अनुभव करता है। जो सर्वात्मिका संवित् या चेतना अलग- अलग देहों में सीमित होकर स्थित है, वह इस मेले की स्थिति में एक दूसरे से संघट्टित होकर प्रतिबिंबों के रूप में चमक उठती है। तब एक ही चेतना की रश्मियों का पुंज इन सब चेतनाओं में प्रतिबिंबित होता है, अनेक दर्पणों में जैसे एक ही प्रतिबिंब भासित हो उस तरह अनायास वह सब में एक ही अंश झलकता है। नृत्य गीत आदि को देखते सुनते हुए भी रसिकों की परिषद् में सब को एक सा तन्मयीभाव होता है, तब जो आह्लाद होता है, वह किसी एक का नहीं होता।)

जगत् व कविसृष्टि दोनों को समझाने के लिये शैवदर्शन तथा तदाधारित सौंदर्यशास्त्र में दर्पण के रूपक का उपयोग किया गया। शिव और उनकी शक्ति दर्पण है, स्वात्म दर्पण या स्वात्मप्रतिबिंब रूप जगत् को शिव रचते हैं। कवि की प्रतिभा दर्पण है, उसमें स्वात्मप्रतिबिंबरूप कविसृष्टि को वह रचता है। दर्पण के रूपक को काव्य पर घटाते हुए भट्टेन्दुराज ने उद्भट के काव्यालंकारसूत्रवृत्ति की अपनी विवृति में कहा है –

रसोल्लासी कवेरात्मा स्वच्छे शब्दार्थदर्पणे।
माधुर्यौजोयुतप्रौढे प्रतिविन्द्य प्रकाशते।
सम्पीतस्वच्छशब्दार्थद्राविताभ्यन्तरस्ततः।
श्रोता तत्साम्यतः पुष्टिं चतुर्वर्गे परां व्रजेत्।।

अर्थात् रस से उल्लसित कवि का आत्म स्वच्छशब्दार्थदर्पण में प्रतिबिंबित होकर प्रकाशित होता है। यह चित्त को द्रवित कर के पुरुषार्थ की प्राप्ति की ओर ले जाता है।

भरत और स्तानिस्लाव्स्की दोनों ही अभिनेता की अंर्तदृष्टि पर जोर देते हैं। सत्त्व पर आधारित अभिनय सात्त्विक अभिनय है। चित्त की एकाग्रता से उत्पन्न स्थिति सत्त्व है। यह चित्तवृत्त्यात्मक होने से अव्यक्त रहता है, पर इस भाव का बोध अभिनेता के शरीर में रोमांच, अश्रु आदि के प्रत्यक्षीकरण से होता है। इस प्रकार सत्त्व सूक्ष्म रूप से अभिनेता या सर्जक के चित्त में ही नहीं, देह में भी अभिव्याप्त रहता है और उसके आश्रय से ही भाव, हाव, हेला तथा अभिनय के समय सारे अलङ्कार प्रकट हो पाते हैं। आधुनिक नाट्य निर्देशकों ने भी अभिनय के लिए अभिनेता का अपने आप के ऊपर एकाग्र होना महत्त्वपूर्ण माना है। रूस के प्रख्यात रंगनिर्देशक स्तानिस्लाव्स्की कहते हैं- अभिनेता को इस तथ्य के प्रति सचेत और एकाग्र रहना चाहिए कि मैं हूँ-मेरा अस्तित्व है। यह एकाग्रता उसे पात्र की भावनाओं में प्रवेश कराती है।[१३]

भरत ने नाट्य के लिए वेद को एक प्रमाण भी माना है और नाट्य को उन्होंने चार वेदों के अतिरिक्त पांचवां वेद भी कहा है। कालिदास नाट्य को चाक्षुष यज्ञ कहते हैं। इस परम्परा में नाट्य वेद है और उसका अनुष्ठान एक यज्ञ है। यज्ञ में यजमान अपने सीमित व्यक्तित्व या अहंकार की आहुति देकर अनन्त से जुड़ता है। नाट्य में भी अभिनेता अपने सीमित व्यक्तित्व का विसर्जन करता है और अनन्त से जुड़ता है। नाट्य अपने आप में अनन्त विश्व को समेटे हुए है। नाट्योत्पत्ति के मिथक में ब्रह्मा कहते हैं-

नैकान्तोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।।

(ना.शा., १. १०७)

१३ स्तानिस्लाव्स्की ऑन आर्ट, पृ. ४४

अभिनव गुप्त ने भरत के आशय को स्पष्ट कहते हुए कहा है कि नाट्य के अवलोकन से प्रेक्षक का चित्त निर्मल होता है तथा वह संस्कारों को ग्रहण करता है–

नाट्ये तु पारमार्थिकं किञ्चिदद्य मे कृत्यं भविष्यतीत्येवंभूताभिसन्धिसंस्काराभावात् सर्वपरिषत्साधारणप्रमोदसारापर्यन्त– रसना (समा) दरणीयलोकोत्तरदर्शनश्रवणयोगी भविष्यामीत्यभिसन्धि– संस्कारादुचितगीतातोद्यचर्वणाविस्मृतसांसारिकभावतया विमलमुकुरकल्पी– भूतनिजहृदयः,
सूच्याद्यभिनयावलोकनाद्भिन्नप्रमोदशोकादितन्मयीभावः, पाठ्या –
कर्णनपात्रान्तरप्रवेशवशात् समुत्पन्ने देशकालविशेषावेशानालिङ्गिते
सम्यङ्मिथ्यासंशयसम्भावनादिज्ञानविज्ञेयत्वपरामर्शानास्पदे, रामरावणादिविषया–
ध्यवसाये, तत्संस्कारानुवृत्तिकारणभूततत्सहचरहृद्यवस्तुरूपगीतातोद्यप्रमदानुभव–
संस्कारसूचितसमनुगततदुक्तरूपरामाध्य वसायसंस्कार एव भवन्पञ्चषैर्दिवसैः
सचमत्कारतदीयचरित–मध्यप्रविष्टस्वात्मरूपमतिः स्वात्मद्वारेण विश्वं तथा पश्यन्
प्रत्येकं सामाजिको देशकालविशेषाणामपरामर्शेन एवंकारिणामिदमिति
लीढा(लिङ्ग)त्मक– विधिसमर्पितं संविज्जातीयमेव संविद्विशेषरञ्जकप्राणवल्लभा–
प्रतिमरसास्वादसहचररम्यगीतातोद्यादिसंस्काररसा(नुभव)वशेन हृदयाभ्यन्तर–
निखातं तत एवोत्पुंखनशतैरपि म्लानिमात्रमप्यभजमानं
भजंस्तत्तच्छुभाशुभप्रेप्साजिहासा – सततस्यूत – वृत्तित्वादेव शुभमाचरत्यशुभं समुज्झति।

(अभिनवभारती, नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ. ३६)।

स्तानिस्लाव्स्की अभिनेता को भौतिकता के प्रलोभनों से दूर रहकर रंगमंच को एक साधनास्थली समझने तथा उसके लिए जीवन का उत्सर्ग करने का उपदेश देते रहे। उनके इस आग्रह ने उन्हें आधुनिकतावादी अभिनेताओं का कोपभाजन भी बनना पड़ा। पर स्तानिस्लाव्स्की उन अभिनेताओं को कड़ी फटकार सुनाते हैं, जो दोहरी जिन्दगी जी रहे हैं, जो रंगमंच पर महान् आदर्शों को रूपायित करते हैं, पर असली जिन्दगी में उसके ठीक उलटे चलते हैं। सही कलाकार वही है, जिसके लिए रंगमंच ही जीवन का सब कुछ है, रंगमंच उसके लिए देशसेवा का एकमात्र माध्यम है। रंगमंच ही उसका देश है, उसकी प्रेरणा है तथा उसके लिए शाश्वत साहस का स्रोत है।[१४]

14 (The true artist in the man to whom the theatre is the be all and the end all of his entire life, the stage is his only way of serving his country. The stage is his country, his inspiration, his source of eternal courage. (Stanislavsky, 1980, p. 107).

स्तानिस्लाव्स्की विसर्जन में अभिनेता के जीवन की अर्थवत्ता देखते हैं, जिसकी अभिव्यक्ति पावन हृदय के सौन्दर्य तथा विचारों की आग में होती है। इस विसर्जन का संबंध अभिनेता के आंतरिक जीवन से है।[१५] यदि भरत की या भारतीय परम्परा में नाट्य यज्ञ या वेद है, तो स्तानिस्लाव्स्की के लिए भी रंगमंच 'कला का देवालय' है, यहाँ केवल उदात्ता और सौन्दर्य के लिए जगह है।[१६]

भरतमुनि की परम्परा में रस ही नाट्य का प्राण है, रस के बिना नाट्य में कहीं कुछ भी घटित हो ही नहीं सकता। **न रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते** (नाशा., अ. ६)। रसों में चार मूल रस हैं, जिनका संबंध चार पुरुषार्थों से है। इस प्रकार रसास्वाद जीवन के पुरुषार्थों से अनिवार्यतया अनुषक्त है। योग साधना तथा अध्यात्म मनुष्य को मुक्ति देता है, काव्य या नाट्य भी भावुक या सहृदय को मुक्ति देता है।

रस की सृष्टि तथा उसके आस्वाद दोनों के लिए हृदय की पावनता अपेक्षित है। रंगमंच की प्रक्रिया पर विचार करते हुए स्तानिस्लाव्स्की भी यही कहते हैं। वे रंगमंच पर विकारों के प्रक्षेप या यथार्थ की सतही अनुकृति का विरोध करते हैं (स्तानिस्लाव्स्की, १९६३, पृ. ८२)।

स्तानिस्लाव्स्की ने किसी भी भूमिका की रचना के दो पक्ष माने हैं–भौतिक तथा आध्यात्मिक। जिस तरह भरतमुनि की धर्मी की अवधारणा में उसके दोनों पक्ष–लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी अनिवार्यतया और अविभाज्यतया एक–दूसरे से जुड़े हुए हैं, उसी प्रकार स्तानिस्लाव्स्की में भूमिका के निर्वाह की ये दोनों स्थितियां भी परस्पर अनुषक्त हैं। रंगमंच पर भौतिक जीवन की रचना में तो उसका आधा काम ही हो पाता है। .....''क्योंकि कला का मुख्य उद्देश्य बाहर को नहीं, मानवीय आत्मा की रचना को सम्प्रेषित करना है।'' यह अवश्य है कि जो सीधे इस आत्मिक अनुभव तक नहीं पहुँच पाते, वे भौतिक पक्ष से आरम्भ करते हैं।

भट्ट–नायक का कथन है कि नाट्य का प्रयोजन जिस प्रकार पुरुषार्थसिद्धि है, उसी प्रकार नाट्यशास्त्र के प्रतिपादन का प्रयोजन भी पुरुषार्थ तथा अन्ततः मोक्ष की सिद्धि ही है। भट्टनायक ने अपने इस मन्तव्य की पुष्टि के लिए नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय से '**स्वं स्वं निमित्तमादाय शान्तादुत्पद्यते रसः**' यह कारिका उद्धृत की थी जिससे नाट्य में शान्त रस ही मूल रस है– यह सिद्धान्त सामने आता है। शान्तरस के द्वारा तत्त्वज्ञान या मोक्ष की प्राप्ति या प्रयोजन नाट्य तथा नाट्यशास्त्र का है।

वेदांत या शैवदर्शन की मुक्तिसाधना तथा नाट्य की साधना – इन दोनों की समाकारिता केवल पारस्परिक दृष्टांत देने तक ही सीमित नहीं रही, बौद्ध दर्शन के अंतर्गत साधनापद्धतियों में तो रंगमंच की प्रविधियों का ध्यान की प्रविधि में उपयोग भी किया गया।

---

१५ वही, पृ. ११०

१६ वही, पृ. ११०

लंकावतारसूत्र में कहा गया है– इन्द्रियाँ माया हैं, जगत् स्वप्न है, मनुष्य इसमें अभिनेता की तरह काम करते हैं। बौद्ध वाङ्मय में रंगमंच और नाट्य के प्रतीकों का बहुधा उपयोग किया गया है, जो रंगमंच की प्रविधियों से निकट का परिचय भी प्रकट करता है। ध्यान के लिये पालि तथा सिंहली भाषाओं में भावना शब्द का प्रयोग होता है। भावना स्थिर रह कर चित्त एकाग्र करना ही नहीं हैं, यह जीवन की प्रत्येक गतिविधि का नाट्य की तरह तटस्थ अवलोकन भी है। यहाँ भावना से अभिप्राय वह नहीं है, जो मीमांसा दर्शन में है, और जिस अभिप्राय ने कदाचित् लोल्लट या भट्टनायक के रसव्याख्यान को प्रभावित किया है। भावना या ध्यान के दो चरण माने गये– समता तथा विपश्यना। समता चित्त की समाहित स्थिति है, पर विपश्यना में अपने भीतर के तथा बाहर के संसार को व्यक्ति भावक या प्रेक्षक बन कर देखता है। इसलिये थेरवाद के अनेक प्रामाणिक प्रवक्ताओं ने विपश्यना के साधक की तुलना नाटक के दर्शक से की है।[१७] अभिनेता भी साधक के अपने भीतर है और प्रेक्षक भी। विपश्यना का भावक पहले तो अभिनेता और प्रेक्षक को पृथक् करता है फिर अभिनेता के अभिनय की प्रक्रिया का साक्षी बन जाता है। वह प्रस्तुति को देखता है।

कैण्डी नृत्य का उद्भव चौथी शताब्दी ई. पू. के आसपास कोहोम्बा नामक अनुष्ठान से हुआ। इसके जनक इन्द्र देव माने गये है। वे श्रीलंका, स्याम, मलय आदि देशों की बौद्धधर्म परम्परा में बुद्ध के परम अनुगत और सहायक देवता हैं। श्रीलंका में तो इन्द्र को बौद्धधर्म के सर्वोच्च संरक्षणकर्ता के रूप में भी पूजा जाता है। बुद्ध के पवित्र दाँत की यात्रा के अवसर पर श्रीलंका के पारम्परिक नृत्य कैण्डी का अनुष्ठान के रूप में प्रयोग किया जाता था। कैण्डी नृत्य करने वाले स्त्री पुरुष बौद्ध मन्दिरों से सम्बद्ध रहते थे। कैण्डी नृत्य में बौद्ध परम्परा के अन्तर्गत अश्व प्रयाण की नाट्यानुकृति प्रमुख रूप से की जाने लगी जिसके द्वारा यह दिखाया जाता कि सिद्धार्थ ने अपने अश्व कन्थक पर सवार होकर किस प्रकार महाभिनिष्क्रमण किया। इस प्रकार कैण्डी नृत्य का मूल आनुष्ठानिक स्वरूप भी बना रहा, जिसमें वह शस्यसमृद्धि तथा प्रजोत्पत्ति के लिये किया जाने वाला नृत्य था तथा उसका बौद्ध मन्दिरों से जुड़कर एक धार्मिक स्वरूप भी विकसित होता रहा। इसके आगे साधनापद्धति के रूप में निर्वाणप्राप्ति के लिये भी उसे अंगीकार किया गया।

थेरवादी परम्परा से जुड़े एक नाट्य को कर्म नाट्य की संज्ञा दी जा सकती है। अभिनेता स्वयं प्रेक्षक में रूपान्तरित हो जाता है, इस तरह कर्म नाट्य निर्वाण के पथ पर ले जाता है। इस परम्परा में कर्म को कर्ता से पृथक् कर के देखा गया, पर यह माना गया कि प्रत्येक कर्म का कर्ता पर प्रभाव होता है। सत्कर्म का अगले जन्म में अच्छा फल मिल सकता है। इसलिये सत्कर्मों का कथन या गुणगान भी

१७ डेविड ई.आर. जॉर्ज: १९९९, पृ. ६५

श्रेयस्कर माना गया। अत एव महायान की परम्परा में बोधिसत्त्व के अवदानों का निरूपण प्रचलित हुआ। गोम्ब्रिश ने सुविसि पिंकम का उदाहरण दिया है जो नृत्य तथा गीत के द्वारा बुद्ध के २४ जन्मों की अनुकृति प्रस्तुत करता है। इस पर कैण्डी नृत्य और उससे जुड़ी अनुष्ठान की परम्परा का भी प्रभाव रहा है। बुद्ध के द्वारा नृत्य, नाट्य आदि को प्रशस्य माना गया, क्योंकि इनकी प्रस्तुतियाँ आनन्द प्राप्ति के लिये नहीं, बुद्ध के ही सन्देश को सम्प्रेषित करने के लिये होती थीं। महाकवि अश्वघोष ने अपने महाकाव्य सौन्दरनन्द के अन्त में लिखा है–

इत्येषा व्यपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृतिः
श्रोतृणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात् कृता।
यन्मोक्षात् कृतमन्यदत्र हि मया तत् काव्यधर्मात् कृतं
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति।।

(यह कृति मोक्ष के अभिप्राय से रची गई है, यह रति के लिये नहीं है। काव्य मुक्ति के सन्देश को पहुँचाने के लिये एक बहाना है। मैंने अन्यत्र (शास्त्रीय ग्रन्थों में) जो मोक्ष के लिये लिखा है, वहीं यहाँ काव्य में ढाल कर प्रस्तुत किया है, उसी तरह जैसे रोगी को कड़वी औषधि मधु मिला कर आस्वाद्य बना कर दी जाती है।)

इस तरह इस परम्परा में कलानुभव रतिपरक न होकर विरतिपरक हो जाता है। काव्य का प्रयोजन होता है– चित्त का उपशमन करना।

तिब्बत में महायान और वज्रयान के प्रभाव से बौद्धधर्म नाट्य तथा नृत्य से अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न हुआ। यह माना गया कि बुद्ध व्यक्तिविशेष नहीं, एक प्रवृत्ति हैं। प्रत्येक मनुष्य में बुद्ध का वास है। यह बुद्ध तीन कायाओं में एक साथ रहता है–निर्माणकाय, सम्भोगकाय तथा धर्मकाय। नाट्य की प्रस्तुति सम्भोगकाय के क्षेत्र में आती है, पर इसकी परिणति रसास्वाद या तन्मयीभवन नहीं होती। रसास्वाद के रंगमंच में भावार्द्रता और भावाकुलता रहती है। महायान के सम्प्रदाय से जुड़ कर करुणा का सन्देश देने वाले नाट्य में भी न तो इस तरह की दयार्द्रता अपेक्षित है, न भावावेश या भावाकुलता की ऐसी स्थिति ही। बौद्ध परम्परा में करुणा का अर्थ भी किसी पर दयार्द्र होना नहीं है, बोधिसत्त्व करुणा इसलिये करते हैं कि वे अन्य प्राणियों को अपने से अलग कर के देख ही नहीं सकते। शून्यता का अर्थ भी सर्वमुक्ति है। सामान्य या लौकिक करुणा से बुद्ध अथवा बोधिसत्त्व की करुणा को अलग बताने के लिये इसे कहीं–कहीं महाकरुणा कहा गया है, इसी तरह शून्य को महाशून्य कहा गया है।

बौद्धों की तान्त्रिक परम्परा में ध्यान करता हुआ साधक अपने भीतर के नाट्य का स्वयं नाट्यकार और सूत्रधार बन जाता है, और उस नाट्य का नट भी वह स्वयं होता है। जिस देवता का वह ध्यान करता है, उसके व्यक्तित्व के द्वारा वह अपने आप को विस्थापित कर देता है, उसकी भूमिका वह

अपने नटव्यक्तित्व पर आरोपित करता है। जिस तरह अपने रचे विश्व में नट प्रेक्षकों को सहभागी बना लेता है, उस तरह वज्रयानी भी अपने रचे विश्व की वास्तविकता में अन्य लोगों को शामिल कर देता है। सिद्धि का प्रसाद गन्धर्वप्रासाद की भांति साधक को प्राप्त होता है। इसके लिये अभिनेता जिस तरह अभिनय की मुद्राओं का अभ्यास करता है, उसी तरह वज्रयानी साधक के लिये भी मुद्राओं और मण्डल का अभ्यास आवश्यक है। इस पृष्ठभूमि में तिब्बत में वज्रयान की परम्परा से जुड़ कर रहस्यनाटकों का विकास हुआ। तन्त्र और तान्त्रिक अनुष्ठान अपने आप में नाट्यात्मक होते गये। इसी परम्परा में विकसित आनुष्ठानिक नृत्य को चाम कहा जाता है। तिब्बत के लामा समाज में करीब साठ चाम नृत्य प्रचलित रहे हैं। चाम नृत्य भूटान तथा लद्दाख में भी प्रचलित हुआ, इसका उत्कृष्ट रूप नेपाल में दिखाई देता है। प्रधान लामा के द्वारा मन्त्रोच्चारण, ध्यान तथा मण्डलनिर्माण चाम नृत्यनाट्य की अपनी विशेषताएं हैं। चाम नृत्य की मुख्य प्रस्तुति जो जन साधारण के समक्ष प्रदर्शित होती है, पर इसके पहले आनुष्ठानिक आचार पन्द्रह दिन पहले से आरम्भ कर दिये जाते हैं। इन आचारों में ध्यान और मन्त्रोच्चार किया जाता है। चाम नृत्यनाट्य का उद्देश्य जन सामान्य को वज्रयान के प्रति अभिमुख बनाना है। यह माना जाता है कि इस नृत्य नाट्य की सम्पूर्ण प्रस्तुति ही बोधिसत्त्व की करुणा से प्रेरित है तथा इससे जुड़े समस्त अनुष्ठान निर्वाण प्राप्ति के उपाय माने जाते हैं। बौद्धों के त्रिकाय सिद्धान्त के अनुसार नृत्यनाट्य से जुड़े ये सारे अनुष्ठान तीन स्तरों पर अपनी अर्थवत्ता रखते हैं। निर्माण काय के स्तर पर नृत्य नाट्य रूप और आकार ग्रहण करता है, सम्भोग काय के स्तर पर उसमें निहित भाव का ग्रहण होता है, और धर्मकाय के स्तर पर वह सार्वभौम रूप में व्यक्त होता है। संसार में प्रत्येक वस्तु की सत्ता में ये तीनों स्तर निरन्तर बने रहते हैं, नृत्य नाट्य में भी उसी तरह ये तीनों पिरोये जाते हैं। रिनपोछे इस पूरे नृत्य में स्वयं सम्मिलित नहीं होता, शेष लामा नृत्य करते हैं।

वज्रयान के अन्तर्गत छोड नामक ध्यान में बौद्धों के विज्ञानवादी विमर्श की दूरगामी परिणति हुई। यह जगत् विज्ञान से जन्मा है, अतः योगी अपने ध्यान से भौतिक आकृतियों को उत्पन्न करता है। इस तरह योगी स्वयं अपने रहस्य नाट्य का एकाकी सूत्रधार बन जाता है। मुक्ति की अवस्था को भी यहाँ आनन्दनाट्य की संज्ञा दी गई है।[१८] वज्रयानी साधक का सौन्दर्यदर्शन वही होता है, जो नाटक के प्रेक्षक का।

इससे आगे जाकर निर्वाण की साधना तथा नाट्यानुष्ठान की एकरूपता का प्रत्यय जापान में बौद्ध धर्म की जेन परम्परा में आ कर होता है। 'जेन' शब्द मूलतः संस्कृत के ध्यान का तद्भव है। ध्यान का उच्चारण चीनी बौद्ध परम्परा में 'चान' किया जाता था। यही 'चान' जापान में आकर 'जेन' में परिणत

१८ डेविड ई.आर. जॉर्ज: १९९९, पृ. १७६

हुआ। जैन परम्परा की स्थापना छठी शताब्दी के आसपास चीन में भारतीय भिक्षु बोधिधर्म के द्वारा की गई। इस मूल में नागार्जुन का माध्यमिक दर्शन का शून्यवाद था। चीन से कोरिया होकर यह परम्परा जापान में पहुँची।

'जेन' परम्परा में बुद्ध के वचनों में श्रद्धा व बुद्ध की पूजा को नकारते हुए अपने भीतर सत्य को समझने पर बल दिया। इसके लिये दो प्रविधियाँ इस परम्परा में विकसित हुईं– जजेन तथा कोन। इनमें से कोन का स्वरूप कुछ सीमा तक नाट्यात्मक है, पर 'जेन' में तो साधक कई घंटे खाली दीवार के सामने बैठ कर ध्यान करता है। कुछ अध्येताओं का मानना है कि जापान में नोह–नाट्य के विकास में इसी जेन साधना का बड़ा योगदान रहा है। इसके प्रमाणस्वरूप वे नोह के महान् नाट्याचार्य ज़ियामी (१३६३–१४४३ ई.) का उदाहरण देते हैं। जापान के नटों की एक परम्परा ज़ियामी को जेन साधक मानती आई है तथा उनके पिता कन्नामी (१३३३–८४ ई.) को शिन्तो धर्म का एक पुरोहित कहा गया है। महान् अभिनेता, नाट्यकार तथा निर्देशक ज़ियामी ने नाट्य की अनुभूति की परमावस्था को हना का नाम दिया है, और इसकी तुलना फूल की सुगन्ध से की है। बुद्ध के विषय में जेन परम्परा में एक कथा प्रसिद्ध है किसी ने भगवान् बुद्ध से पूछा कि उनके धर्म का रहस्य क्या है? बुद्ध ने कोई उत्तर न देकर एक फूल उसके आगे बढ़ा दिया। वह व्यक्ति कुछ झिझका और फिर उसने वह फूल ले लिया तथा बाद में उसने निर्वाण प्राप्त किया। बुद्ध के मौन रह कर उसे केवल फूल देने का अभिप्राय यही था कि धर्म का मर्म शब्दों से नहीं बताया जा सकता। समस्त 'जेन' परम्परा के मूल में बुद्ध का यही मन्तव्य रहा है, और यह परम्परा शब्द को भ्रामक मानती है, इसीलिये बुद्ध के वचनों और धर्मग्रन्थों को भी यहाँ अस्वीकार किया गया, यद्यपि अस्वीकार के लिये भी उनका अध्ययन किया जाता रहा। जैन परम्परा में शून्यता तथा तथता सतत प्रक्रियाएं हैं। सब कुछ को नकार कर के जो स्थिति आती है, उसका भी सतत नकार करते रहना होता है। समाधि की दशा में साधक अपने भीतर के नाट्य को देखता रहता है। मुक्ति की अवस्था तक को यहाँ 'आनन्दमय नाट्य' कहा गया है। इसीलिये शून्यता का तथता में अन्तिम लक्ष्य जैसा कुछ नहीं हो सकता। इनमें से तथता की अवधारणा विशेष रूप से जेन साधकों की ही देन है। तथता वस्तुओं को प्रकृत रूप में देखने की निरन्तर प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में सतोरी का उदय होता है। सतोरी की प्रस्तुति में हना से कर सकते हैं। ज़ियामी का कहना था कि नोह की प्रस्तुति में हना का उदय आकस्मिक प्रत्यवभास होता है। हना ही नाट्य का मर्म है। वह तकनीक, अभिनय रंगसज्जा, विषयवस्तु– इन सबसे परे है। हना अभिनेता का लक्ष्य है, तो प्रेक्षक की नाट्यानुभति का भी वह परम शिखर है। हना के तत्त्व को समझने के लिये ज़ियामी ने जेन चिन्तकों और साधकों की शब्दावली का भी खूब सहारा लिया है। नोह की प्रस्तुतियों में कार्य व्यापार के बीच में सहसा विराम जैन साधकों की शून्यता या तथाता के बोध के लिये लाया जाता है। सारा कार्यव्यापार को रोक देने के लिये होता है, शब्द मौन में पर्यवसित होने के लिये

उच्चरित होते हैं। इस विराम और मौन में ही ज़ियामी के हना के पुष्प की सृष्टि हो सकती है। इस पुष्प की तुलना हम उस फूल से कर सकते हैं, जिसे बुद्ध ने ऊपर उल्लिखित कथा में जिज्ञासु को दिया था। यह पुष्प अभिनय, प्रक्रिया, प्रविधि, प्रस्तुति के विषय आदि में नहीं रहता, वह इन सबसे परे है, इसलिये इन्हें विराम देकर ही उसकी सृष्टि हो सकती है। जेन में मानस व्यापार को देखने की जो प्रक्रिया साधना के लिये बताई गई, उसका उपयोग जापान में युद्धकला के विकास के लिये किया गया। सामरिक शास्त्र और तलवारबाजी या द्वन्द्वयुद्ध के प्रशिक्षण में जेन सम्प्रदाय के मुशिन (मस्तिष्क और विचारों को स्थगित या निरस्त करना) सिद्धान्त ने धार्मिक और दार्शनिक आधार प्रदान किया। रंगमंच और नाटक के विकास के लिये भी उसने यही आधार प्रदान किया।

जीवन में भी हम अभिनय ही करते हैं, मंच पर भी अभिनय करते हैं। पर हम व्यवहार में दोनों को अपनी-अपनी जगह अलग अलग रखते हैं। भरतमुनि, स्तानिस्लाव्स्की, ग्रोतोव्स्की और बौद्ध साधकों की नाट्य परंपराएँ इस अलगाव को निरस्त कर देती हैं।

संदर्भग्रंथ

नाट्यशास्त्र, भाग १, अभिनवभारतीसहित, बडोदरा,१९९२

नाट्यशास्त्र भाग ३ अभिनवभारतीसहित, बडोदरा२००३

Jerzy Grotowsky: Towards a Poor Theatre, ed. Euginio Barba, Mathuen Co. Ltd., London, 1968

Stanislavsky - An Actor Hand Book, ed. Elizabeth Reynolds Heygood, New York Theatre Arts Books, 1963